ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
ISSN No.: 2347-2944, RNI:UPBIL04292, REG. No.: 561/2013-2014 Vol.-1, No.-1, PP-226-230,YEAR-2013

प्रत्ययान्त धातुपद रचना

❑डॉ0 चन्द्रेश कुमार पाण्डेय

प्राचीन संस्कृत व्याकरण में धातु रचना के लिए आख्यात शब्द का प्रयोग होता था। इस रचना के दो प्रमुख घटक तत्त्व हैं– धातु (प्रकृति) तथा तिङ् प्रत्यय। धातु तथा तिङ् का प्रयोग दो रूपों में होता है। तिङन्त पद रचना में धातु के साथ तिङ् प्रत्यय का बिना व्यवधान के योग होना अव्यवहित कहलाता है, यथा– या + ति = याति, अद् + ति = अत्ति। जब क्रिया पदों की रचना में धातु और तिङ् का सीधा संयोग नहीं होता, बल्कि अन्य ध्वनि का अन्तर्निवेश होता है, उसे व्यवहित कहते हैं, यथा– मुच् + अ + ति = मुञ्चति। ऐसे प्रयोग वैदिक काल से चले आ रहे थे। पाणिनि के समय में क्रिया रूपों के स्थान पर कृदन्त रूपों का उत्तरोत्तर प्रचलन बढ़ने लगा। इसी प्रकार धातुमूलों से निष्पन्न होकर विविध भावों एवं वृत्तियों के अभिव्यञ्जक क्रिया रूपों – णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त, यङलुगन्त आदि का प्रयोग भी सीमिततर हो गया। णिजन्त और सन्नन्त का प्रयोग अब भी प्रचलन में हैं।

प्रत्ययान्त धातुओं से जो पद रचना होती है उसे प्राचीन व्याकरण परम्परा ने पाँच भागों में विभक्त किया है– कर्मवाच्य (Passive voice), णिजन्त (Causative), यङन्त या यङ्लुक् (पौनः पुन्यार्थक Intensive), सन्नन्त (Desirative) और नामधातु (Denominative verb) कहा जाता है। "इनमें प्रयुक्त होने वाले तिङन्त प्रत्ययों का स्वरूप एवं अर्थ वही होता है, किन्तु इन प्रत्ययों के कारण मूल धातु के अर्थ में वृद्धि हो जाती है। इनका आधार सामान्यतः मूलधातु का वर्तमानकालिक धात्वंग हुआ करता है।"[1] इनका क्रमशः वर्णन निम्न प्रकार से है–

कर्मवाच्य– कर्मवाच्य के रूपों की रचना दिवादिगण के धातुरूपों के समान ही 'य' विकिरण के साथ की जाती है; अर्थात् मूलधातु + 'य' विकिरण + आत्मनेपद का रूप = कर्मवाच्य क्रिया। दिवादिगण में 'य' धात्वंश होता है जबकि कर्मवाच्य की क्रिया में 'य' विकिरण होता है; जैसे– क्षीयते = नष्ट होता है, क्षीयते = नष्ट किया जाता है। कर्मवाच्य में केवल वर्तमानकालिक रूपों का ही प्रयोग किया जाता है। कार्य की समाप्ति की बोधक क्रियाओं से बनने वाले कर्मवाच्य रूपों के अतिरिक्त भूतकालिक कर्मवाच्य प्रत्यय 'क्त'(त) तथा भविश्यत्कालिक प्रत्यय 'तव्य' से भी कर्मवाच्य के अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। वर्तमान समय में यह प्रवृत्ति अधिक पायी जा रही है। यथा– 'अहं पत्रं अलिखम्' के स्थान पर 'मया पत्रं लिखितम्' प्रयोग अधिक प्रचलन में है। इतनी ही गति से भाववाच्य का भी प्रयोग चल रहा है। जैसे– 'इह तिष्ठतु' के स्थान पर 'इह स्थीयताम्'।

णिजन्त– णिजन्त क्रिया प्रत्ययान्त धातु रूपों में प्राचीन काल से ही महत्त्व को धारण करने वाली रही है। इसकी रचना धातुमूल पर इ (णि) झ अय प्रत्यय जोड़कर की जाती है जो चुरादिगण की धातु रूप रचना के समान होती है। 'अय' प्रत्यय से बनने वाले इन दोनों रूपों में यह अन्तर होता है कि चुरादिगण के शुद्ध धातुरूपों में धातु के स्वर को गुण नहीं होता है जबकि णिजन्त में गुण हो जाता है। रुच् धातु से चुरादिगण में 'रुचयति' बनता है जबकि णिजन्त धातु में गुण होकर 'रोचयति' बनता है। "प्रयोजक का कार्य भेजना आदि (प्रेरणा) कहना हो तो धातु से णिच् प्रत्यय होता है। ण् इत् होने से धातु को यथाप्राप्त गुण या वृद्धि होती है। भवन्तं प्रेरयति (होते हुए को प्रेरणा देता है) – भावयति।"[2] संस्कृत व्याकरण में णिजन्त को प्रेरणार्थक क्रिया भी कहते हैं। इसके द्वारा सामान्य क्रिया के कर्त्ता को तत् तत्

सह–आचार्य, संस्कृत विभाग, महाविद्यालय भटवली बाजार, उनवल, गोरखपुर (उ0प्र0), भारत

कार्यों के लिए प्रेरित किया जाता है। प्रेरणार्थक वाक्यों में कर्त्ता दो प्रकार के होते हैं, यथा– 'देवदत्त खाता है।' इस वाक्य में देवदत्त स्वतन्त्र कर्त्ता है। परन्तु 'यज्ञदत्त देवदत्त को खिलाता है' यहाँ यज्ञदत्त कर्त्ता भी है और हेतु भी है। "जब कर्त्ता को कार्य में प्रवृत्त करने वाला दूसरा होता है तब उस दूसरे को कर्त्ता कहा जाता ही है इसके अतिरिक्त उसे हेतु भी कहा जाता है।"[3] प्रथम कर्त्ता 'देवदत्त' प्रयोज्य कर्त्ता है और प्रेरणा का कर्त्ता प्रयोजक कर्त्ता 'यज्ञदत्त' है। चुरादिगण में णिच् स्वार्थ में होता है, परन्तु इसमें प्रेरणा के अर्थ में 'णिच्' प्रत्यय लगता है। "इस प्रकार की प्रेरणार्थक धातुओं से सार्वधातुक लकारों में 'अ' विकिरण लगता है तथा आर्धधातुक लकारों में 'इ' का आगम हो जाता है।"[4]

संरचनात्मक दृष्टि से णिजन्त रूप रचना के कुछ प्रमुख तत्त्व इस प्रकार हैं–

1. हलन्त धातुमूलों में णिजन्त प्रत्यय के योग में, सामान्यतः मूल स्वर को गुण हो जाता है– बुध धातु से बोधयति, तृप् धातु से तर्पयति। मूल स्वर 'अ' यथावत् बना रहता है – नम् धातु से नमयति, गम् धातु से गमयति, परन्तु अनेक 'अ' स्वर वाले धातुमूलों में 'अ' को वृद्धिभाव भी देखा जाता है– 'नश्' धातु से नाशयति, 'त्रस्' धातु से त्रासयति।

2. स्वरों से अन्त होने वाले धातुमूलों में अनेक प्रकार के संरचनात्मक रूप देखने में आते हैं–

(क) सामान्यतः धातु के स्वर को वृद्धिभाव हो जाता है, जैसे– 'चि' धातु से चाययति, 'कृ' धातु से कारयति तथा 'भू' धातु से भावयति; परन्तु 'दुष्' धातु से दूषयति और 'गुह्' धातु से गूहयति में उकार को दीर्घ हो जाता है।

(ख) आकारान्त धातुमूलों में णिजन्त प्रत्यय से पूर्व में 'प्' अन्तर्निवेश कर दिया जाता है।

"ऋ, ह्वी, व्ली, री, क्नूयी, क्ष्मायी और आकारान्त धातुओं को पुक् (प्) आगम होता है बाद में णि हो तो। स्थापयति– स्था+णिच् (इ)+ लट् प्रथम पुरुश एकवचन। स्था के बाद प्, गुण, अय् आदेश।"[5] 'दा' धातु से दापयति, 'स्ना' धातु से स्नापयति और 'या' धातु से यापयति। इसके अलावा 'ऋ' तथा 'इ' अन्त वाले धातुमूलों में भी अन्तर्निवेश की प्रवृत्ति पायी जाती है, जैसे– 'ऋ' धातु से अर्पयति, 'अधि' उपसर्गपूर्वक 'इ' धातु से अध्यापयति आदि।

'प्' के अन्तर्निवेश के अतिरिक्त और भी अन्य व्यंजनात्मक अन्तर्निवेश हैं, जिनका प्रयोग विभिन्न धातुमूलों में णिजन्त प्रत्यय से पूर्व देखा जाता है जैसे– पा धातु – रक्षा करना से –ल– का पालयति; पा धातु – 'पीना' से –य– का पाययति। 'प्री' धातु– प्रसन्न होना से –न– का, प्रीणयति और 'भी' धातु –डरना से –ष– का भीषयते।

इन नियमों के अतिरिक्त लिट् लकार के रूपों की रचना हेतु धातु के साथ 'आम्' जोड़कर उसके आगे कृ, भू, या अस् धातुओं के लिट् लकार के रूपों को जोड़ दिया जाता है, यथा– पाठयांबभूव और गमयांचकार आदि।

प्रेरणार्थक धातुओं के लुङ् लकार के रूपों की संरचना के कुछ विशेष नियम निम्न प्रकार हैं–

इसमें धातु को द्वित्व करने के बाद, द्वित्वीकृत धातुमूल में निम्न परिवर्तन हो जाते हैं।

(अ) ह्रस्व या दीर्घ उकारान्त धातुमूलों के अभ्यास के स्वर को 'ई' हो जाता है, भू धातु से अबीभवत्, पू धातु से अपीपवत्। "सन् प्रत्यय परे रहते जो अंग, उसके अवयव अभ्यास के 'उ' को 'इ' हो जाता है, यदि अ–परक (अ जिनके बाद में है), प वर्ग, यण् (य व र ल) और ज हो तो। अबीभवत् – भू + णिच् (भावि) + लुङ्, प्र. वि. ए.।"[6]

(आ) धातु के मूल दीर्घ स्वर को प्रायः ह्रस्व हो जाता है, यथा– धू धातु से अधूधुवत्, प्री धातु से अपीप्रियत्।

यङन्त या यङलुगन्त– किसी क्रिया के अतिशय अर्थ में होने या बार–बार होने का बोध कराने के लिए 'यङ्' प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है। यङ् प्रत्यय के दो रूप होते हैं; एक रूप 'य' है और दूसरा 'शून्य' है। 'य' जब धातु के अंग के रूप में विद्यमान रहता है तो 'यङन्त' रूप बनता है और जब 'य' का लोप होता है तो 'यङलुगन्त' रूप कहलाता है। सामान्य रूप से यङलुगन्त का प्रयोग वैदिक संस्कृत में तथा यङन्त का प्रयोग लौकिक संस्कृत में अधिक होता है। साहित्यिक संस्कृत में यङलुगन्त का

प्रयोग तथा वैदिक संस्कृत में यङन्त का प्रयोग बहुत ही कम मिलता है।

यङ् प्रत्यय की विशेषता यह है कि यह केवल एकाच् धातुओं के ही योग में होता है तथा इससे बनने वाले क्रियारूप केवल आत्मनेपद में होते हैं। "क्रिया का बार–बार होना या अधिक होना अर्थ प्रकट करने के लिए एकाच् हलादि धातु से यङ् प्रत्यय होता है।"[7]

'पुनः पुनः' 'अतिशयेन' या 'भृशम्' को धातु के साथ जोड़कर भी इस अर्थ को प्रकट किया जाता है और यङन्त का प्रयोग करके भी वही अर्थ व्यक्त होता है। जैसे– पुनः पुनः भवति, अतिशयेन भवति, भृशं भवति अथवा यङ् लगाकर वोभूयते।

1. सार्वधातुक लकारों में प्रकृति, प्रत्यय के बीच 'य' विकिरण प्रयुक्त होता है।

2. धातुमूल को द्वित्व (अभ्यास) हो जाता है और द्वित्व के सामान्य रूपों के अतिरिक्त निम्न कुछ विशेष रूप भी पाये जाते हैं।

सामान्यतः अभ्यास के स्वर को गुण आदेश होता है। "अभ्यास को गुण होता है यङ् परे रहते या यङ् लुक् में"[8] जैसे– धू धातु से दोधूयते, रुच् धातु से रोरुच्यते, विद् धातु से वेविद्यते और मृज् धातु से मर्मृज्यते, परन्तु अभ्यास के 'अ' स्वर को 'आ' हो जाता है यथा– या धातु से यायाच्यते और पच् धातु से पापच्यते।

कई धातुओं में अभ्यास के 'ऋ' को गुण होने पर 'इ' का आगम होता है, यथा नृत् धातु से नरीनृत्यते; परन्तु "ऋकारान्त धातु यदि केवल एक हल् हो तो 'ऋ' को 'री' हो जाता है।"[9] यथा– कृ धातु से चेक्रीयते।

कुछ नासिक्य ध्वनिरहित धातुओं में भी यङन्त रूप में नासिक्य ध्वनि का योग पाया जाता है, जैसे– 'जल्प' धातु से जंजल्प्यते और 'चुर्' धातु से चंचूर्यते। नासिक्य व्यंजन से अन्त होने वाले धातुओं के अभ्यस्त अंश में नासिक्य व्यंजनांश बना रहता है– यथा 'गम्' धातु से 'जंगम्यते' तथा हन् धातु से जंघन्यते। यङलुगन्त हमेशा परस्मैपद में होता है।

सन्नन्त– जब किसी कर्त्ता के द्वारा किसी क्रिया को करने की इच्छा के भाव को अभिव्यक्त करना हो तो धातु में–स– (सन्) प्रत्यय लगाकर रूप रचना की जाती है, इसे इच्छार्थक या (सन्+अन्त) सन्नन्त रूप कहते हैं। यङन्त रूपों की रचना के समान इसमें भी धातुमूल में द्वित्व किया जाता है। इसके रूप चुरादिगण को छोड़कर षेश गणों में बनते हैं जिनमें केवल एक स्वर हो। इनके रूप परस्मैपद में भी बनते हैं और आत्मनेपद में भी। "इच्छा करने वाला और धातु का कर्ता एक ही होना चाहिए।"[10]

सामान्यतः अभ्यस्त मूल के अ, आ, इ, ई, ऋ, ॠ, ए, ऐ स्वरों को 'इ' तथा उ, ऊ, ओ, औ को 'उ' हो जाता है, यथा– ज्ञा से जिज्ञासति, भिद् से विभित्सति, पठ् से पिपठिसति, गै से जिगासति, वे (बुनना) से विवासति, युध् से युयुत्सति और भू से बुभूषति।

कभी–कभी धातु के 'ऋ' को 'इर्' भी होता है – कृ से चिकीर्षति। कुछ धातुओं में द्वित्व नहीं होता। इनका धातु स्वर ह्रस्व या दीर्घ 'इ' में परिवर्तित हो जाता है, यथा– षक् से शिक्षति, लभ् से लिप्सति, दा से दित्सति तथा आप् से इप्सति।

नाम धातु– संस्कृत में संज्ञा, सर्वनाम या क्रिया विशेषण से भी क्रिया पद की रचना हो सकती है; इस प्रकार के क्रिया रूप को नाम धातु कहा जाता है। नाम धातु बनाने में अनेक प्रत्ययों का प्रयोग होता है। इनकी रचना कुछ परस्मैपदी की तरह होती है कुछ की आत्मनेपदी की तरह। कुछ दोनों रूपों में प्रयोग होते हैं। इनकी रूप रचना या तो दिवादिगण के अनुरूप होती है या भ्वादि गण के अनुरूप। नाम धातु की रचना करने वाले प्रत्ययों का विवरण निम्नवत् है–

क्यच् (य), काम्यच् (काम्य)– आचरण करने, व्यवहार करने, चाहने तथा किसी भी क्रिया के करने की अभिव्यक्ति हेतु –य– प्रत्यय के योग से नामधातुएँ बनायी जाती हैं। इसका एक लघु रूप असुक् (स्य) आगम भी होता है। क्यच्, काम्यच् और असुक् प्रत्यय से बनने वाले रूप परस्मैपद में होते हैं। "अ को ई होता है बाद में क्यच् हो तो।"[11] पुत्र इ पुत्रीयति (आत्मनः पुत्रम् इच्छति – अपना पुत्र चाहता है अर्थात्

पुत्र की इच्छा करता है), पुत्र+क्यच् (य), पुत्र के अ को ई आदेश, लट्, तिप्, षप्, गुण होकर पुत्रीयति रूप बना। इसी प्रकार मातृ से मातृयति (माता बनना चाहती है। पुत्रमात्मनः इच्छति = अपना पुत्र चाहता है, पुत्र+काम्यःलट्+प्र.पु.ए. = पुत्रकाम्यति। "क्यच् और क्यङ् प्रत्यय बाद में होने पर न् अन्त वाले की ही पदसंज्ञा होती है अन्य की नहीं।"[12] राजानम् आत्मनः इच्छति – अपना राजा चाहता है। राजन् + क्यच् (म), लट् प्र.पु.ए.। नलोपः – 0 से नकार लोप। दधि से दधिस्यति (दही चाहता है), नमस्यति (नमस्कार करता है)।

क्विप् प्रत्यय (शून्य)– क्विप् प्रत्यय का सर्वापहार लोप होता है। "वार्तिक– सभी प्रातिपादिक से क्विप् प्रत्यय विकल्प से आचार अर्थ में"[13] लोप के बाद प्रातिपादिक का रूप ही धातु का रूप होता है। उसी से लट् आदि लकार होते हैं। यह व्यवहार (आचार) इस अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए होता है यथा– देव इव आचरति – देव झ देवति, माला झ मालाति, कृष्ण झ कृष्णाति।

क्यङ् (आय) प्रत्यय– इस प्रत्यय का प्रयोग होना, करना एवं आचरण करना आदि अर्थों को व्यक्त करने के लिए किया जाता है। इस प्रत्यय के योग से बनने वाले रूप आत्मनेपद में होते हैं। "शब्द वैर, कलह, अभ्र, कण्व और मेघ इन कर्मकारकों में विद्यमान शब्दों से करोति (करता है) अर्थ में क्यङ् (य) प्रत्यय होता है।"[14] शब्दं करोति (शब्द करता है) शब्दायते, सुख झ सुखायते, चपल झ चपलायते (चंचल न होने पर भी चंचल बनता है), अप्सरा झ अप्सरायते (अप्सरा की तरह व्यवहार करती है), वैरं करोति = वैरायते, कलहं करोति = कलहायते, मेघं करोति = मेघायते आदि।

इसके अतिरिक्त एक अन्य प्रत्यय य (यक्) से उभयपदी की रचना होती है – कण्डू झ कण्डूयति, कण्डूयते – खुजली करता है, दुःख से दुःखयति या दुःखयते = दुःखी करता है, आदि।

हलन्त प्रातिपदिकों से 'य' के योग के साथ विभिन्न अर्थों के अभिव्यंजक नामधातुओं की रचना वैदिक संस्कृत में की जाती थी, यथा– भिषज्यति, वैद्य की तरह व्यवहार करता है। बाद में व्यंजन रूपों का प्रचलन जाता रहा और 'अ' विकिरणयुक्त पदमूलों से यह रचना होने लगी। परस्मैपदी रूपों में 'अय' तथा आत्मनेपदी रूपों में 'आय' जोड़ने का प्राधान्य हो गया। जैसे– आत्मनेपदी रूपों में कलुषायते, तरुणायते तथा परस्मैपदी रूपों में कलुषयति, तरुणयति।

नामधातु के इस सम्पूर्ण स्वरूप के लिए यह भारोपीय का ऋणी है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. संस्कृत का ऐतिहासिक एवं संरचनात्मक परिचय– आख्यात पद रचना, पृ. 219; लेखक– डॉ. देवीदत्त शर्मा, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, द्वितीय संस्करण–1984; मुद्रक– सिटीजन प्रिण्टर्स, 183, चन्द्रावल रोड, दिल्ली–7.
2. संस्कृत व्याकरण – ण्यन्त प्रक्रिया प्रारम्भ; हेतुमति च (3–1–26), पृ. 215–16; डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, सन् 1967.
3. श्री वरदराज कृत लघुसिद्धान्तकौमुदी अथ ण्यन्त प्रक्रिया – तत्प्रयोजको हेतुश्च (1–4–44) पृ. 683, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, वाराणसी, पटना, मद्रास।
4. संस्कृत का ऐतिहासिक एवं संरचनात्मक परिचय– आख्यात पद रचना, पृ. 220.
5. संस्कृत व्याकरण – ण्यन्त प्रक्रिया प्रारम्भ; अर्ति ही ब्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुङ्णौ (7–3–36), पृ 216.
6. वहीं, ओः पुयण्ज्यपरे (7–4–80), पृ 216.
7. लघुसिद्धान्तकौमुदी – अथ यङन्त प्रक्रिया– धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् (3. 1.22) (वृति) पौनः पुन्ये भृशार्थे च द्योत्ये धातोरेकाचौ हलादेर्यङ् स्यात् पृ. 691.
8. लघुसिद्धान्तकौमुदी – तिङन्ते यङन्त प्रक्रिया – गुणो यङ् लुकोः (7–4–82) पृ. 692.
9. लघुसिद्धान्तकौमुदी – तिङन्त यङन्त प्रक्रिया – रीगऋदुपधस्य च (7–4–90) पृ. 694.

10. संस्कृत व्याकरण – सन्नन्त प्रक्रिया प्रारम्भ; धातोः कर्मणः समानकर्त्तृकादिच्छायां वा (3–1–7), पृ 217.
11. वहीं, नामधातु प्रकरण प्रारम्भ – क्यचि च (7–4–3) पृ. 222.
12. वहीं, नः क्ये (1–4–15) पृ. 222.
13. वहीं, उपमानदाचारे (3–1–10). (सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विव्वा वक्तव्यः, वा)
14. वहीं, शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेधेभ्यः करणे (3–1–17) पृ. 224.

*****